सन्तानान्तरसिद्धि

प्राप्तिः 22.05.2021
स्वीकृतः 16.06.2021

श्रुति शर्मा
शोध छात्रा,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
प्रयागराज, उत्तर प्रदेश
ईमेलः Shrutisharma34567@gmail-com

सारांश

बौद्ध प्रत्ययवादी दार्शनिक, बाह्य जगत के अस्तित्व का खण्डन करते है। अतः इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक हो जाता है कि क्या मेरे अलावा अन्य चित्त/मनस् अथवा संतानन्तर का अस्तित्व है या नहीं? यदि बौद्ध दार्शनिक इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर देते है तो उनका बाह्यार्थ का सिद्धान्त असंगत हो जायेगा और यदि इसका निषेध करते है, तो अन्य का उपदेश देना अर्थहीन होगा। पुनः बौद्ध दर्शन के प्रारम्भ से ही अहंमात्रवाद के विरुद्ध अनेकों सन्दर्भ प्राप्त होते है। यथा– "अनात्मवाद का सिद्धान्त बौद्ध दर्शन का मूलभूत सिद्धान्त है। इसके सन्दर्भ में Thomas E- wood लिखते है कि– "This philosophy could not be reconciled with the doctrine of solipsism, according to which I alone exist". इसके पश्चात् आचार्य वसुबन्धु की कृति "विंशतिका" में इससे सम्बंधित अंश प्राप्त होता है। ध्यातव्य है कि विज्ञानवादी "योगी" में विश्वास करते है, जो स्वयं में अन्य चित्त/परचित्त के ज्ञान की शक्ति का विकास करते है, इसके साथ ही वह "बुद्ध के सर्वज्ञानत्व" में भी विश्वास करते है। इस समस्या को व्यवस्थित ढंग से आचार्य धर्मकीर्ति ने अपनी कृति "सन्तानान्तरसिद्धिः" में व्याख्यित करने का प्रयास किया है। प्रस्तुत शोध पत्र में इस कृति की विस्तृत व्याख्या करने का प्रयास किया गया है।

मुख्य शब्द : *अन्य मनस् की समस्या, बौद्ध दर्शन, वसुबन्धु, धर्मकीर्ति , ज्ञानमीमांसा।*

प्रस्तावना

बौद्ध प्रत्ययवादी दार्शनिक, बाह्य जगत के अस्तित्व का खण्डन करते है। अतः इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक हो जाता है कि क्या मेरे अलावा अन्य चित्त/मनस् अथवा संतानन्तर का अस्तित्व है या नहीं? यदि बौद्ध दार्शनिक इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर देते है तो उनका बाह्यार्थ का सिद्धान्त असंगत हो जायेगा और यदि इसका निषेध करते है, तो अन्य का उपदेश देना अर्थहीन होगा। पुनः बौद्ध दर्शन के प्रारम्भ से ही अहंमात्रवाद के विरुद्ध अनेकों सन्दर्भ प्राप्त होते है। यथा– "अनात्मवाद का सिद्धान्त बौद्ध दर्शन का मूलभूत सिद्धान्त है। इसके सन्दर्भ में Thomas E- wood लिखते है कि– 'This philosophy could not be reconciled with the doctrine of solipsism, according

to which I alone exist'[1]. इसके पश्चात् आचार्य वसुबन्धु की कृति "विंशतिका" में इससे सम्बंधित अंश प्राप्त होता है यथा–

"परचित्तविदां ज्ञानमयथार्थं कथं यथा। स्वचित्तज्ञानं अज्ञानाद्यथा बुद्धस्य गोचरः।[2]

ध्यातव्य है कि विज्ञानवादी "योगी" में विश्वास करते है, जो स्वयं में अन्य चित्त/परचित्त के ज्ञान की शक्ति का विकास करते है, इसके साथ ही वह "बुद्ध के सर्वज्ञानत्व" में भी विश्वास करते है। आचार्य धर्मकीर्ति ने इस समस्या पर एक स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना की यथा "सन्तानान्तरसिद्धि"। आचार्य पहले ऐसे दार्शनिक थे, जिन्होंने इस समस्या को समझने के लिए व्यवस्थित प्रयास किया। वह वस्तुवादी–प्रत्ययवादी विवाद के अंतर्गत बाह्य जगत के सत्ता मूलक अवस्था के सन्दर्भ में इस समस्या को उठाते है।

आचार्य बाह्यार्थ का खण्डन करते है, जिसके फलस्वरूप उन पर अहंमात्रवाद का दोष लगता है। अतः उनके लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह अपनी विज्ञानवादी स्थिति पर कायम रहते हुए संतानन्तर के अस्तित्व के औचित्य के लिए पर्याप्त तर्क प्रस्तुत करें। आचार्य की कृति "सन्तानान्तरसिद्धि" उनकी एकमात्र ऐसी रचना है जो प्रत्यक्षतः प्रमाण–व्यवस्था से सम्बन्धित न हो कर प्रमाण सिद्धांतों के प्रयोग से विज्ञानवादी विचारधारा के अनुरूप संतानन्तर के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास करते है। आचार्य "सन्तानान्तरसिद्धि" के प्रारंभिक श्लोक में विषयवस्तु तथा लक्ष्य का उल्लेख करते हुए दोनों में सम्बन्ध को दर्शाते है। यथा

"बुद्धि पूर्वा क्रियां दृष्ट्वा स्वदेहेऽन्यत्र तद्–ग्रहणात्,
ज्ञायते यदि धीश्चित्तमात्रेऽप्ये एषा नयः समः।[3]

उपरोक्त विषय को लेकर वस्तुवादी तथा प्रत्ययवादी दार्शनिकों के मध्य विवाद परिलक्षित होता है। वस्तुवादियों के अनुसार, प्रत्ययवादी सिद्धान्त के आधार पर संतानन्तर के अस्तित्व को सिद्ध करना असंभव है। उसके लिए वह निम्न तर्क देते है– वह जो केवल प्रत्ययों और विज्ञानों में विश्वास करते है, तथा बह्यार्थ का खण्डन करते है, वे प्रत्यक्ष के आधार पर संतानन्तर के ज्ञान को अस्वीकार करते है, क्योंकि उनके अनुसार, प्रत्यक्ष की वस्तु विज्ञान में ही अन्तर्निहित है। अतः इस सन्दर्भ में अनुमान भी असंभव है। पुनः संतानन्तर के बाह्य संकेतों/लक्षणों के अनुमान के आधार पर उनके अस्तित्व को स्वीकार किया जा सकता है परन्तु प्रत्ययवादी इसका भी निषेध करते है। अतः बह्यार्थ पर आधारित अनुमान की भी कोई संभावना नहीं है। पुनः वह प्रामाणिक ग्रंथों की प्रमाणिकता को भी अस्वीकार करते है क्योंकि वह शब्दों या व्यक्तिगत शब्दों का संग्रह मात्र है, तथा दोनों ही बाह्य वस्तुएं है, जिनका वह खण्डन करते है।

वस्तुवादियों के आक्षेपों का उत्तर देते हुए आचार्य लिखते है– हम वस्तुवादियों के इस तथ्य से सहमती प्रकट करते है कि– 'अन्य चित्त अथवा संतानान्तर का ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से नहीं हो सकता तथा यह इस तथ्य पर आधारित है कि– हम पारमार्थिक प्रत्यक्ष को ग्रहण नहीं कर सकते। पुनः जहाँ तक ग्रंथों की बात है तो हम ग्रंथों का सार व्यक्त ध्वनि (Articulate sound) न स्वीकार कर , विशेष वाक्यों, शब्दों या ध्वनियों के रूप में प्रतीतिकृत होता है तथा यह प्रतीति हमारे विज्ञान से सम्बन्धित है। हालाँकि यह हम पर संस्थापकों यथा– भगवान बुद्ध, कपिल आदि के प्रभाव के रूप में परिलक्षित होते है। अतः इस आधार पर जब हम यह कहते है कि– 'शब्द कुछ व्यक्त करते है (word express something) इससे हमारा तात्पर्य यह होता है कि शब्द सामान्य

अवधारणा का प्रतिनिधित्व करते है। फिर भी, हम ग्रंथों के प्रमाण के आधार पर अन्य चित्त के ज्ञान का प्रतिपादन न करके उसे अनुमान पर आधारित करते है।

आचार्य दोनों मतों में अनुमान की सार्थकता को दृष्टिगत कराते हुए लिखते है कि वस्तुवादी अन्य चित्त के अस्तित्व का अनुमान सादृश्यता के आधार पर करते है। वह स्वयं की भांति अन्यों में ठीक वैसी ही शारीरिक क्रिया और वाणी के अनुभव के आधार पर अन्य चित्त का अनुमान करते है। पुनः यही अनुमान प्रत्ययवादी दृष्टिकोण से भी संभव है। अतः प्रत्ययवादी भी अन्य चित्त के अस्तित्व का अनुमान कर सकते है। यहाँ शारीरिक क्रिया तथा वाणी से तात्पर्य मन/चित्त के भौतिक मौखिक स्वभाव से है। फलस्वरूप यदि हम स्वयं पर ध्यान दे कि हमारी क्रिया तथा वाणी इच्छा के द्वारा संचालित तथा बोली जाती है, इसी के सदृश्य यह अनुमान किया जा सकता है कि अन्य चित्त में समान इच्छा के द्वारा शारीरिक क्रिया तथा वाणी का अनुभव होता है।

प्रश्न उठता है कि यहाँ किस प्रकार के सादृश्यता की बात की जा रही है ? क्योंकि उपर्युक्त अनुमान का आधार बाह्य वाणी तथा भौतिक क्रियाएँ है, जो अन्य चित्त के बाह्य चिन्ह/स्वभाव के रूप में प्रस्तुत होता है। वस्तुवादी इनके अस्तित्व में विश्वास करते है परन्तु प्रत्ययवादी इनका खण्डन करते है। आचार्य लिखते है,

"तच्च कायवाग्विज्ञप्तिप्रतिभासी ज्ञानं ज्ञानान्तर स्पंदनवेशेषेण विना भवत्येवम् ना मतं।[4]

अर्थात् अन्य चित्त के शारीरिक और वाणी जो प्रतिभास हमें प्राप्त होता है, वह विज्ञान के विशेष प्रतिक्रिया (special process of consciousness) के कारण होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अन्य चित्त के बाह्य चिन्ह का प्रतिभास, जो हमारे समक्ष अन्य चित्त की क्रिया और वाणी के रूप में प्रस्तुत होता है, प्रत्ययवादियों के अनुसार उसका विज्ञान के विशेष प्रक्रिया से भिन्न अस्तित्व नहीं है। इस पर आपत्ति प्रकट करते हुए वस्तुवादी कहते है कि यदि प्रत्ययवादी अन्य चित्त की क्रियाओं का प्रत्यक्ष स्वीकार नहीं करते, तो उनका अनुमान करना अनुचित होगा।

इसका उत्तर देते हुए आचार्य लिखते है कि वस्तुवादियों द्वारा उठाई गयी यह आपत्ति अनुचित है, क्योंकि यह आपत्ति उन पर भी लागू होती है। इसे और स्पष्ट करते हुए वह लिखते है कि वस्तुवादी दार्शनिकों को भी अन्य चित्त का प्रत्यक्ष रूप से अनुभव नहीं होता है अतः उन्हें भी इन क्रियाओं का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, जो अन्य चित्त द्वारा संचालित होता है। फलस्वरूप उन्हें भी इसका ज्ञान नहीं हो सकता।

"तुल्यत्वात् परोऽपि परज्ञानपूर्वो तौ कदापि न पश्यति, अतः तेनापि तन्न ज्ञायते ।[5]

पुनः वस्तुवादी यह तर्क प्रस्तुत करते है कि क्योंकि स्वयं की संवेदना अन्य व्यक्ति के क्रियाओं का कारण नहीं हो सकती, अतः हम अन्य चित्त का अनुमान कर सकते है। इस पर आक्षेप करते हुए आचार्य लिखते है कि ऐसा क्यों है कि हमारी चेतना/संवेदना अन्य की क्रियाओं का कारण नहीं हो सकता ? प्रति उत्तर में वह कहते है कि हमें स्वयं में उन व्यक्तिगत विचारों/अभिप्रायों का स्पष्ट रूप से अनुभव नहीं होता, जिससे अन्य की क्रियाएँ संचालित होती है, क्योंकि हमारी संवेदना का परिणाम हमारे स्वयं के व्यक्तित्व से सम्बन्धित होती है। उदाहरण के लिए मैं जाता हूँ, मैं बोलता हूँ आदि।

पुनःश्च यदि अन्य की क्रियाएँ भी हमारे संवेदनाओं का परिणाम होती तो वह भी अन्य की न होकर हमारे स्वयं की क्रियाएँ होती। परन्तु ऐसा नहीं है। अतः अन्य चित्त का अस्तित्व सिद्ध होता है। इससे सहमती प्रकट करते हुए आचार्य लिखते है कि

"स्वचित्तस्पंदननिमित्तके विज्ञप्तिप्रतिभासिनी ज्ञाने चान्तर्मुखप्रतिभासिनी प्रतीतेः बहिर्मुखप्रतिभासिनी अन्यनिमित्तदुत्पद्येते ।[6]

अर्थात् प्रत्ययवादी दृष्टिकोण से भी यही परिणाम निगमित होता है, क्योंकि इस स्थिति में यथा अन्य चित्त के क्रिया संचालन में हमें भी अन्य के व्यक्तिगत क्रिया/अभिप्रेरणा का स्पष्ट रूप से अनुभव नहीं होता। पुनः जिन बाह्य चिन्हों की प्रतीति होती है, उसका प्रतिभास हमें आत्मनिष्ठ रूप से होता है । अतः वस्तुनिष्ठ प्रत्यक्ष के लिए अन्य कारण होना चाहिए।

पुनः वस्तुवादी दार्शनिक अपना संदेह प्रकट करते हुए कहते है कि यह मानने की क्या आवश्यकता है कि बाह्य/अन्य क्रियाओं का कोई कारण अवश्य होना चाहिए ? आचार्य प्रति उत्तर में कहते है कि यह इस प्रकार है यदि अन्य क्रिया का आभास बिना किसी कारण के होगा, तो उस दशा में सामान्य रूप से हमारे स्वयं की क्रिया और वाणी के प्रतिभास का कोई कारण नहीं माना जायेगा। अतः दोनों में कोई अंतर नहीं है। फलस्वरूप केवल एक ही श्रेणी के प्रतिभासो यथा स्वयं की क्रिया और वाणी का कारण संवेदना को स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत उन विभिन्न क्रियाओं का प्रतिभास जो स्वयं के शरीर से अन्यत्र प्राप्त होती है, वह निःसंदेह रूप से विज्ञान के चिन्ह (marks of mind) ही है।

अतः आचार्य यह तथ्य स्थापित करते है कि स्वयं के शरीर से सम्बन्धित या अन्य से जुडी जिन क्रियाओं और वाणी का प्रतिभास हमें होता है, उनका कारण अवश्य रूप से संवेदना ही होगी। परिणामस्वरूप क्रिया और संवेदना एक दुसरे से अवियोज्य रूप से जुड़े है।

"तत्र यथा क्रियामुपलभ्य, आत्मनि स्पंदनानुपलम्भादन्यत्र स्पंदनप्रतीतिः
तथा क्रियाप्रतिभासोपलम्भने'पि। समानमेतत्"[7]

यथार्थवादी दार्शनिक पुनः इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए कहते है कि प्रत्ययवादी बाह्य वस्तु सत् को स्वप्न रूप स्वीकार करते है, जो प्रत्यय मात्र से बने है तथा जिनके अनुरूप कोई अन्य सत्ता नहीं है। अतः उनके स्वयं की क्रिया और वाणी का अस्तित्व आत्मनिरीक्षण द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है परन्तु इसके विपरीत अन्य क्रियाएँ स्वप्न की भांति मानी जाएगी। प्रति उत्तर में आचार्य कहते है कि जिस प्रकार जाग्रत अवस्था में हमें क्रिया और वाणी का प्रतिभास ग्रहण होता है, उसी प्रकार स्वप्नावस्था में भी होता है। इसका कारण अन्य चित्त के क्रिया और वाणी का प्रतिभास, अपरोक्ष प्रभाव के बिना प्राप्त होता है। आचार्य इसे और स्पष्ट करते हुए लिखते है कि

"एतत् केषञ्चिन्मत एव सर्वाणि तथा विधानि ज्ञानानि संतानान्तरायत्तानि।
विशेषस्तु साक्षात् परम्परया च।[8]

अर्थात् अन्य चित्त के क्रिया एवं वाणी के प्रतिभास की आश्रय/परायता की पुष्टि केवल हमारे दृष्टिकोण अर्थात् प्रत्ययवादी दृष्टिकोण से ही संभव है। जाग्रत अवस्था और स्वप्नावस्था में अंतर केवल यही है कि यह आश्रय या तो परोक्ष होगा या अपरोक्ष।

आचार्य पुनः वस्तुवादियों के असंगतिहीनता को दर्शाते हुए लिखते है कि यदि चित्त के अस्तित्व का अनुमान शारीरिक क्रिया के द्वारा माना जाये, तो जाग्रत तथा स्वप्न, दोनों में ही अवस्थाओं में इसे या तो सदैव मानना होगा या फिर कभी नहीं। अतः तब कोई भी किसी भी स्थिति में शारीरिक क्रिया के आधार पर चित्त के अस्तित्व का अनुमान नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसी स्थिति में चित्त के न होने पर भी हमें शारीरिक क्रिया की संवेदना प्राप्त होगी।[9] पुनः इसे और स्पष्ट करते हुए कहते है कि

"सर्वप्रकारव्यपदेश साम्यात् कदाचिज्ज्ञानमर्थशून्यं, अन्यदान्यथा इतेषो'धिकारः कुतो लब्धः ?
अथ मिद्धादिनावस्थान्यथा भावश्चेत्।[10]

अर्थात् जब एक ही शब्द किसी निश्चित वस्तु के सभी रूपों को व्याख्यित करता है, तो वह शब्द उस वस्तु के सभी रूपों पर लागू किया जा सकता है। चूकि यह शब्द उन सभी रूपों के लिए समान है, तथा इसी ज्ञान के आधार पर वस्तुवादी यह दावा करते है कि स्वप्नावस्था में प्रतिभास बिना वस्तु के ग्रहण होता है, वही जाग्रत अवस्था में वस्तु उपस्थित होती है। अतः वस्तुवादियों द्वारा यह दावा असंगत है कि स्वप्नावस्था में वस्तु का अभाव होता है क्योंकि जाग्रतवस्था की ही भांति स्वप्नावस्था में वस्तु दृश्यगत् होती है, तथा उसका प्रतिभास भी ग्रहण होता है।

आचार्य लिखते है यदि आप वस्तु सत् के बिना प्रतिभास की संभावना को स्वीकार करते है, तो यह एक अन्य समस्या है। तब हमारे प्रत्ययों का अस्तित्व बिना बाह्य वस्तु के संभव होगा क्योंकि यह सब अतेन्द्रिय भ्रम का परिणाम है। उपर्युक्त विवेचना के पश्चात् आचार्य अपनी ज्ञानमीमांसा के अनुसार अन्य चित्त के अस्तित्व की व्याख्या करते है। वह लिखते है यथा

"समुत्थापकचित्तं च तयोरेवोपादान कारणम्, संतानान्तरज्ञानयोः त्वधिपतिप्रत्ययः।
विज्ञप्तेरुपादानात्ते जनिते। तत्सम्बंधेनोपचाराद् विज्ञप्ति भवतः।
भवतु स्वपरयोः स्वस्वप्रतिभासस्यानुभवः, तैमिरिकद्वयदृष्टद्विचन्द्रवत्"[11]

अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में स्वयं के ही प्रतिभासो का अनुभव करता है। इसी प्रकार जब दो व्यक्ति एक ही नेत्र रोग से पीड़ित, एक के स्थान पर दो चन्द्रमा को देखते है, तो उनमें से प्रत्येक स्वतंत्र रूप से अपने प्रतिभास का अनुभव करता है। अतः हमें यह लगता है कि जब दो व्यक्ति एक ही वस्तु के स्पष्ट और विशिष्ट प्रतिभास की संवेदना को ग्रहण करता है तो यह उनके प्रतिभासो के समान आकस्मिक संयोग है।

ध्यातव्य है कि बौद्ध दार्शनिक वैध ज्ञान की उपलब्धि में दो प्रकार के प्रमाणों को स्वीकार करते है यथा प्रत्यक्ष प्रमाण तथा अनुमान प्रमाण। हालांकि अनुमान प्रमाण से किसी वस्तु का वास्तविक अस्तित्व प्रकाशित नहीं होता। परन्तु फिर भी यह सत्य अनुभूति का स्तोत्र है, जो वांछित उद्देश्य की प्राप्ति में दिशा प्रदान करता है। इसलिए जब हमें धुएं का प्रत्यक्ष प्राप्त होता है और उसके आधार पर अग्नि का अनुमान करते है, तो हम वहां अग्नि के वास्तविक अस्तित्व की बात नहीं कर रहे होते है। अन्यथा इन्द्रिय अनुभव से प्राप्त अग्नि तथा विचारों में प्रतिभासित अग्नि के मध्य कोई अंतर नहीं रह जायेगा। यदि दोनों के मध्य कोई अंतर नहीं होगा ,तब हम विचार में अग्नि को भुत, भविष्य और कल्पना में निर्देशित नहीं कर पाएंगे। दूसरी ओर जिस अग्नि का अनुमान होता है, उसे वास्तविक अग्नि के समान प्रभावी होना चाहिये। इसलिए अनुमान सोद्देश्य क्रिया को निर्देशित करता है।

पुनः यह प्रश्न उठता है कि क्या अनुमान की यह विशिष्टता संतानान्तर की प्रक्रिया में दृष्टिगत होती है या नहीं ? प्रति उत्तर में आचार्य कहते है

"परचित्तानुमाने 'प्यभिप्रेतार्थाविसम्वादो 'स्त्येव द्य तत्प्रवर्तनद्वारेण प्राण्यन्तरसत्तां प्रतिपद्य पुनः पुनर्व्यवहारप्रवृत्तौ तदाधिपत्यादागार्थस्य प्राप्तेः।[12]

अर्थात् जब कोई व्यक्ति, अन्य चित्त के अनुमान के आधार पर अन्य व्यक्ति के अस्तित्व का अभिज्ञान करता है तथा उसके अनुरूप क्रिया सम्पादित करता है, तो वह अंतिम रूप से स्वयं के उद्देश्य को पूरा करता है। उदाहरण के लिए, अन्य व्यक्ति का अभिवादन करना, स्वागत करना आदि। अतः किसी भी उद्देश्य की प्राप्ति अन्य चित्त/संतानान्तर के अस्तित्व का निर्धारण करती है। आचार्य इसे निम्न प्रकार से व्याख्यित करते है

"उत्तरार्थविशेष प्रतिभासिज्ञानानुभवोदय मात्रेण पुरुषस्य निराकांक्षत्वात। पूर्वज्ञानेन व्यवहारसमाप्तेः कृतार्थतत्वं प्रमाणत्वेन सिद्धत्वात्।[13]

अंततः संतानान्तर के ज्ञान के सम्बन्ध में अनुमान ही एकमात्र स्त्रोत है , तथा यह अन्य व्यक्ति के प्रति हमारे उद्देश्यपूर्ण क्रिया को निर्देशित करने में भी सक्षम है। अतः यह संतानान्तर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का परोक्ष साधन है। पुनः यह वस्तुवादियों तथा प्रत्ययवादियों दोनों के लिए ही वैध ज्ञान का साधन है। फलस्वरूप अहंमात्रवाद तार्किक पृष्ठ के आधार पर आपत्ति जनक नहीं है।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. Wood, Thomas, E. (1994), "Mind only -A Philosophical and Doctrinal Analysis of the Vijnanavada, Delhi, page no**. 93.**
2. Chatterjee, K. N. (1980), "Vasubandhu's Vijnapti-mātratā-siddhi (with Sthiramati's commentary), Kishore Vidya Niketan, Varanasi, Verse 21, Page no. **24-25**.
3. Negi, J. S. (1997), "Santānātarasiddhi of Acharya Dharmakīrti and Santānātarasiddhi-tika of Acharya Vinitadeva, restored and edited, Varanasi, Verse 1.
4. Negi, J. S. (1997), "Santānātarasiddhi of Acharya Dharmakīrti and Santānātarasiddhi-tika of Acharya Vinitadeva, restored and edited, Varanasi, Verse 3.
5. Negi, J. S. (1997), "Santānātarasiddhi of Acharya Dharmakīrti and Santānātarasiddhi-tika of Acharya Vinitadeva, restored and edited, Varanasi,, Verse 5.
6. Negi, J. S. (1997), "Santānātarasiddhi of Acharya Dharmakīrti and Santānātarasiddhi-tika of Acharya Vinitadeva, restored and edited, Varanasi,, Verse 12.
7. Negi, J. S. (1997), "Santānātarasiddhi of Acharya Dharmakīrti and Santānātarasiddhi-tika of Acharya Vinitadeva, restored and edited, Varanasi,, Verse 22.
8. Negi, J. S. (1997), "Santānātarasiddhi of Acharya Dharmakīrti and Santānātarasiddhi-tika of Acharya Vinitadeva, restored and edited, Varanasi,, Verse 36.
9. Negi, J. S. (1997), "Santānātarasiddhi of Acharya Dharmakīrti and Santānātarasiddhi-tika of Acharya Vinitadeva, restored and edited, Varanasi,, Verse 52. क्रियातः स्पंदनप्रतिपत्तौ स्वाप इतरस्मिञ्च स्यातप्रतिपत्तिरथ वा नैव कदाचन परस्पंदनभावे'पि क्रियालम्बनोदयात्।
10. Negi, J. S. (1997), "Santānātarasiddhi of Acharya Dharmakīrti and Santānātarasiddhi-tika of Acharya Vinitadeva, restored and edited, Varanasi,, Verse 56.

11ठ Negi, J. S. (1997), "Santānātarasiddhi of Acharya Dharmakīrti and Santānātarasiddhi-tika of Acharya Vinitadeva, restored and edited, Varanasi,, Verse **61-63**.
12. Negi, J. S. (1997), "Santānātarasiddhi of Acharya Dharmakīrti and Santānātarasiddhi-tika of Acharya Vinitadeva, restored and edited, Varanasi,, Verse **77-78.**
13. Negi, J. S. (1997), "Santānātarasiddhi of Acharya Dharmakīrti and Santānātarasiddhi-tika of Acharya Vinitadeva, restored and edited, Varanasi,, Verse **80-81.**
14. Stcherbatsky, Th., "Establishment of the Existence of Other Minds: A free Translation of Dharmakirti's Santānātarasiddhi and Vinitadeva's Santānātarasiddhi-tika," Translated into Russian with Vinitadeva's tika St. Petersburg, 1922. [This is turn has been translated into English by H. C. Gupta in ISPP 10 (1969**): 335—383**).
15. Stcherbatsky, Th. "Buddhist Logic , Vol. 1, New York 1930.
16. Sharma, Ramesh Kumar, "Dharmakīrti on the existence of other Minds," journal of Philosophy, 1985 13:**55-71**.
17. Shah, Nagin J. "Akalanka's Criticism of Dharmakīrti's Philosophy, Ahmedabad 1967.
18. Chinchore, M. R. "Santānātarasiddhi and Santānātarasiddhi- tika Restored, Varanasi 1997.